

## विनोद कुमार शुक्ल के साहित्य में ग्रामीण जीवन

लखन रघुवंशी (शोधार्थी)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,

वर्धा, महाराष्ट्र, भारत

### शोध संक्षेप

“शहर की भाग दौड़ में पेड़-पौधे और जीव-जंतु के साथ ही सूरज और चंद्रमा भी पीछे छूट गए। नई पीढ़ी जो बेहतर समाज और संस्कृति के निर्माण के लिए शहरों की ओर गई थी, वो भी गांवों की ओर नहीं लौटी, लौटी भी तो मात्र गांवों को शहरों में मिलाने भर के लिए न कि गांवों को स्वतंत्र रूप से अपनी संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए। शहरों के पढ़े-लिखे सभ्य लोगों के लिए गांव मात्र गवईयों के घर रह गए जिन्हें अभी सभ्य होना बाकि है। आर्थिक उन्नति का जितना बेहतर परिणाम शहरी और नौकरीपेशा लोगों को मिला, उसका उतना ही दुष्परिणाम ग्रामीण जनता को भोगना पड़ा। कभी अपने खेतों की कीमत पर, तो कभी जल, जंगल और प्राकृतिक संसाधनों की कीमत पर। लेकिन फिर भी एक बड़ा अंतर ग्रामीण जीवन और शहरी जीवन के मध्य अभी भी बना हुआ है। ग्रामीण जीवन में जहां अभावों के बीच भी सुख और संतुष्टि है वहीं शहरों में सभी भौतिक सुख-सुविधाएं होने के बाद भी तनाव और संबंधों में एक घसीटती हुई पीड़ा है वहां जीवन का आधार आनंद नहीं अपितु समझौता है। विनोद कुमार शुक्ल के तीनों उपन्यास ‘खिलेगा तो देखेंगे’, ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ और ‘हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी’ और ‘बौना पहाड़’ में ऐसे ही गांवों के दर्शन हैं जो क्षणिक सुख से परे और प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर हैं। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि शुक्ल जी के उपन्यासों में अभाव में भी भावमय जीवन का चित्रण है। यहां शहरों की भांति जीवन काटा नहीं अपितु जीया जाता है।”

### प्रस्तावना

विनोद कुमार शुक्ल मुख्य रूप से कवि हैं और यही कारण है कि उनके गद्य भी पद्य के ही समान अनुभूति और आनंद देते हैं। शुक्ल जी अभी तक की उपमाओं को तोड़कर सरल भाषा में सृजनात्मकता के नए आयामों को छूते हैं। कुछ वरिष्ठ आलोचक उन पर कलावादी होने का आरोप भी लगाते हैं लेकिन उनके किसी भी उपन्यास में कला निरर्थक नहीं है। उनके उपन्यासों में पाठकों को कल्पना का संसार देखने को मिलता है और फिर पाठकों पर निर्भर करता है कि वह उस कल्पना के कितने अर्थ खोज सकते हैं।

“दरअसल उपन्यास में कल्पना यथार्थ के धन के रूप में है। ऋण के रूप में नहीं। और गहरे पैठ कर देखें तो कल्पना के बिना रचनात्मक साहित्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इससे रहित होकर वह कोरा-कोरा अनुकरण रह जाता है” -केदारनाथ सिंह

शुक्ल जी के उपन्यास ‘नौकर की कमीज़’ को यदि छोड़ दिया जाए (क्योंकि यह शहर में किराए पर रह रहे दम्पति की कहानी है) तो शेष तीनों उपन्यासों में गांव और प्रकृति उतने ही सशक्त रूप से उपलब्ध हैं, जितना कि उनके उपन्यास के अन्य किरदार। गांवों और प्रकृति का चित्रण किसी भी उपन्यास में मुख्य किरदारों की अपेक्षा कम नहीं होता बल्कि वह समानांतर चलता है।

हिंदी साहित्य के अभी तक के उपन्यासों में जहां गांवों की गरीबी का चित्रण किया गया था वहीं शुक्ल जी ने सर्वप्रथम गांव के उस सुख और विनोद का चित्रण किया है जो शहरवासियों को इतनी सरलता के साथ उपलब्ध नहीं है।

“शहरों में प्रकृति जीवन निर्वाह का साधन बनकर नहीं आती। प्रकृति वहां पालतु होती है। पालतु चीज शौक के लिए होती है। अतः शहरों में प्रकृति विरल मात्रा में होती है और जितनी होती है वह जीवन के साथ रागात्मक संबंध स्थापित नहीं कर पाती। देहात में वह सर्वत्र हमारी सहचरी है।”

डा नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में ‘दीवार में एक खिड़की रहती थी’ को पहला पर्यावरणवादी उपन्यास बताया है। इस उपन्यास में पर्यावरण एक चरित्र की तरह है। बल्कि प्रमुख पात्र की तरह। पर्यावरण जीवन के अभिन्न अंग के रूप में मौजूद है। सोनसी और रघुवर प्रसाद को घेरे हुए, चुपचाप उनके साथ चलते हुए।

साहित्य में ग्रामीण कथा

विनोद कुमार शुक्ल के तीनों ही उपन्यासों में गांवों की कथा है। प्रकाशन के अनुसार ‘खिलेगा तो देखेंगे’ 1996 में पहले प्रकाशित हुआ था। जबकि दीवार में एक खिड़की रहती थी साक्षात्कार पत्रिका में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हुआ था। 1997 में वाणी प्रकाशन के द्वारा ‘दीवार में खिड़की रहती थी’ का प्रकाशन हुआ। ‘खिलेगा तो देखेंगे’ बड़गाव के गुरुजी और उनके परिवार की कहानी है। ‘खिलेगा तो देखेंगे’ में जहां गरीबी का चित्रण है, ‘वही दीवार में खिड़की रहती थी’ में रघुवर प्रसाद और सोनसी के दाम्पत्य जीवन के सुखद क्षणों की कहानी है। ‘खिलेगा तो देखेंगे’ में गांव में तूफान आने पर विद्यालय पुलिस थाने में लगाया जाता है। स्वयं

विनोद कुमार शुक्ल के अनुसार ‘खिलेगा तो देखेंगे’ में पीड़ा का चित्र है। “खिलेगा तो देखेंगे लिखते समय ही मेरे मन में विचार आया कि एक ऐसा उपन्यास भी लिखना चाहिए जिसमें पीड़ा से बचाव हो और मैं ठीक-ठाक नहीं बता सकता कि कब और कैसे दीवार में एक खिड़की रहती थी एक आम आदमी की खुशी को दिखाता उपन्यास बन गया। दीवार में खिड़की रहती थी में रघुवर प्रसाद महाविद्यालय जाते हैं।

महाविद्यालय जोरा गांव में स्थित है। इसी प्रकार हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़ भी एक गांव की कहानी है जिसमें भैरा, बोलू और कानू आदि बच्चों की रोचक कहानियां हैं।”

चार खिड़कियां, अनगिन दृश्य। हर दृश्य, पहले से अलग दृश्य। जो भी देखें। सबके अपने-अपने दृश्य।

खिड़की का वर्णन मात्र दीवार में एक खिड़की रहती थी में है परंतु जब हम इसके अतिरिक्त तीनों उपन्यास खिलेगा तो देखेंगे, हरी घास की छप्पर वाली और बौना पहाड़ और नौकर की कमीज़ भी पढ़ते हैं तब हमें ऐसा ही प्रतीत होता है कि हम एक खिड़की से किसी और ही दुनिया का नज़ारा देख रहे हैं, जो आज की तेज़ भागती जिंदगी में कहीं खो सा गया है। ठीक उसी प्रकार जैसे दीवार में खिड़की रहती थी में बच्चे खिड़की से रघुवर प्रसाद को देखते हैं और रघुवर प्रसाद और सोनसी खिड़की के बाहर की दुनिया को देखते हैं। प्रस्तुत है एक प्रसंग दीवार में एक खिड़की रहती थी से-

“एक तालाब के ऊपर जाकर पत्नी खड़ी हो गई। वह तनकर इस तरह खड़ी थी कि उसके पुष्ट कूल्हे और छोटे लग रहे थे। स्थिर जल में केवल स्तनों की परछाई में कंपन था। या जल में कंपन

था। यह पता नहीं चल रहा था। हो सकता है स्तनों में कंपन हो तो जल में स्तनों की परछाई में कंपन हुआ हो और परछाई के कंपन से जल में। पत्थर पर खड़ी वह इतनी मांसल और ठोस थी कि लगता था कि एक भी कदम आगे बढ़ाएगी, तो तालाब का सारा पानी एक उछाल लेगा। तत्काल हृदय में हुए उलकापात के पत्थर की गढ़ी प्रतिमा ठोसपन और दूर से गर्म लगता था। जब उसने साड़ी को जांघ तक खोसा तो लगा कि पत्थर चंद्रमा का होगा या बृहस्पति का। अगर चंद्रमा का होगा तो रंग पत्थर का ऐसा ही था, जैसे चंद्रमा दूर से दिखता है सुबह।” सोनसी और रघुवर प्रसाद के अतिरिक्त इस उपन्यास में हाथी , महावत, विभागाध्यक्ष, बुढ़ी अम्मा, रघुवर प्रसाद का परिवार और एक लड़का भी है जो अपने पिता के डर से पेड़ पर रहता है और जब लोगों को उसका पेड़ पर रहना पता चलता है तब वह पेड़ बदलकर , अपना घर बदल लेता है। हाथी के द्वारा प्रतिदिन रघुवर प्रसाद महाविद्यालय जाते हैं। महावत रघुवर प्रसाद के घर के सामने लाकर अपने हाथी को बैठने की आज्ञा देता है जिससे रघुवर प्रसाद उस पर बैठ पाएं। उपन्यास में जहां हाथी विनोद का कारण बनता है ठीक उसी प्रकार चिंता का कारण भी बनता है। विभागाध्यक्ष रघुवर प्रसाद को इस बात से अवगत कराते हैं कि कहीं एक दिन ऐसा न हो कि महावत हाथी को तुम्हारे घर ही छोड़ जाए। वैसे शुक्ल जी के उपन्यासों में भविष्य की चिंता कम और वर्तमान का सुख अधिक है। छोटे-छोटे सुख मिलकर ही जीवन को सुखी बनाते हैं। बुढ़ी अम्मा तालाब से सोने के कण बिनती है और फिर सोनसी को एक सोने का कंगन भी देती है। उपन्यास में पति-पत्नी का प्रेम है तो पड़ोसियों के प्रति चिंता का भाव भी

है। जैसे कि उपन्यास में पेड़ पर रहने वाले लड़के को घर भेजने के लिए रघुवर प्रसाद उसे जलेबी का लालच देते हैं और वह पेड़ से उतर जाता है। शुक्ल जी के शब्दों में कूदता नहीं गिर जाता है। जलेबी उसे गोली की तरह लगती है और वह गिर जाता है। ठीक इसी प्रकार सोनसी भी रोज के अपने भोजन में हाथी और पेड़ पर रहने वाले लड़के के लिए भी रोटी बनाती है। गांवों में आज भी पड़ोसियों के साथ पारिवारिक संबंधों जैसा ही व्यवहार किया जाता है। आते-जाते लोगों की राम-राम आज भी ग्रामीणों की दिनचर्या का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके विपरीत शहरों में महिनो गुजर जाते हैं, अपने सगे-संबंधियों के चेहरे देखे। यदि मिलना होता भी है तो वह मात्र औपचारिकता के लिए होता है जबकि दीवार में एक खिड़की रहती थी में खिड़की के परे की दुनिया देखने के लिए विभागाध्यक्ष का आना, बुढ़ी अम्मा का सोनसी को बुलाना और सोनसी की अनुपस्थिति में बुढ़ी अम्मा का रघुवर प्रसाद को चाय पिलाना आदि सभी अनौपचारिक और प्रेम से परिपूर्ण है। विनोद कुमार शुक्ल गांव का दृश्य संबंधों की सरलता के साथ खिंचते हैं। उनके दृश्यों में सम्मोहन की वह शक्ति है कि पाठक गांव, हाथी, महावत सबका साथी बन जाता है। भारत के गांव आज भी प्रकृति और पशु प्रेमी है। वहां विकास के नाम पर इनका विनाश नहीं किया जाता। पेड़ों , नदियों और पशुओं की पूजा उनके नित्यकर्म का हिस्सा है। इसे वह अपनी धार्मिक मान्यताओं से भी जोड़कर देखते हैं। पाप और पुण्य से परे बाढ़ और सूखे जैसी प्राकृतिक आपदाओं के बीच भी प्रकृति से उनका संबंध नहीं टूटा है। वह आज भी मां और संतान के संबंध जितनी प्रगाढ़ता लिए हुए है। पेड़ , पशु और पक्षियों की प्रजातियां या तो समाप्त हो गई है

या फिर लगभग समाप्त होने की प्रक्रिया में है। समय-समय पर कई साहित्यकारों ने यदि अपनी इस चिंता को साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है, तो विनोद कुमार शुक्ल ने प्रकृति और गांव के उस स्वरूप को जीवंत किया है जो आज गांवों में भी लगभग लुप्तप्राय ही हो गया है। “हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी से कुछ दूर वैसी ही घनी हरी घास उग आई। लगता कि छप्पर उग रही है। मिट्टी से उगती हरी घास की छप्पर, फिर मिट्टी से मिट्टी की दीवारें ऊपर मिट्टी से उगी दीवार में , बनाए दिशाओं के दरवाजे खिड़की , सोच समझकर। हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी को किसी ने बनते हुए नहीं देखा था। उगते हुए भी नहीं देखा था। जिसने भी सबसे पहले देखा उसने आकाश और बौने पहाड़ के साथ यह बनी बनाई झोपड़ी देखी। सब बना-बनाया सबने देखा बनते कहां दिखा आकाश बना-बनाया पहाड़ जंगल तरह-तरह की चिड़िया नदियां, समुद्र जीव और जंतु बनते कहां दिखा सूरज पत्थर, पेड़, बरसात ऋतु बसंत और रंग-बिरंगे फूल दिन संध्या और रात। सबसे अच्छी यही बात है कि बना बनाया आगे भी अच्छा बना रहे।” यहां शुक्ल जी ने प्रकृति के मनोरम दृश्य को दिखाते हुए यह भी बताने का प्रयास किया है कि यदि हमने किसी भी चीज (जो कि प्रकृति ने हमें

उपहार स्वरूप दी है) को बनते नहीं देखा है तो उसे मिटाने का अधिकार भी हमारा नहीं है। इसीलिए अंतिम पंक्तियों में उनकी चिंता अभिव्यक्त हो रही है कि जो कुछ भी हमें बना बनाया मिला है वह आगे भी बना रहे। शुक्ल जी के इसी उपन्यास में कुछ ऐसे पक्षियों का भी वर्णन भी है जो अब विलुप्तप्राय हैं जैसे पतरंगी गौरैया जो उड़ते हुए बोलती है और खंजन चिड़िया जिसके पंख सिर पर रखने से बोलू और कूना गायब हो जाते हैं। “पतरंगी गौरैया जितनी बड़ी होती है। पूंछ लम्बी और नुकीली होती है। यह खुली जगहों में , खेतों और, बाड़ों के खम्बों , टेलीफोन के तारों में बैठ अक्सर दिखाई देती है। सांझ होते ही सोने के पहले बसेरे के पेड़ के ऊपर बहुत हल्ला मचाती है।” शुक्ल जी स्वयं भी शिक्षक रहे हैं। इसलिए उनके उपन्यासों में महाविद्यालय , शिक्षक और बच्चे मुख्य रूप से उपस्थित हैं। दीवार में एक खिड़की रहती थी में जहां रघुवर प्रसाद हाथी पर बैठकर विद्यालय जाते हैं। वहीं खिलेगा तो देखेंगे में गुरुजी थाने में विद्यालय चलाते हैं। और हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़ में बच्चे छूटी वाले दिन की पढ़ाई करने स्कूल जाते हैं। प्रस्तुत है खिलेगा तो देखेंगे के विद्यालय का एक प्रसंग- थाना इतने दिनों से खाली था तब भी गांव वालों की उस तरफ जाने की हिम्मत नहीं होती थी। बकरियां तक भूले भटके उस तरफ नहीं जाती थी। जबकि गांव की प्राथमिक पाठशाला में गुरुजी पढ़ाते रहते और बकरियां कूदकर बरामदे में चढ़ जाती। कभी गाय, गाय होने का सामाजिक लाभ उठाकर बिना किसी डर के थाना की तरफ चली जाया करती।

गांव जो आनंद और आत्मीयता के प्रतीक थे अब व्यस्त हो गए हैं। आधुनिकता ने गांवों का स्वरूप भी बदल दिया है। शुक्ल जी के उपन्यासों में केवल गांव की ही सादगी नहीं है चरित्रों की भी सादगी, भोलापन और सच्चाई है। उनमें कोई छल और बैर नहीं है। रघुवर प्रसाद को विभागाध्यक्ष उनकी सादगी की वजह से ही पसंद करते हैं। शुक्ल जी के उपन्यासों में वह आत्मीय सुख है, जो हम बाहरी और भौतिक चीजों में खोजते रहते हैं।

धूप ही में छांव थी कहीं। छांव दूढ़ते रहे, धूप पाते रहे।

22 अप्रैल 1983 को अपनी डायरी में निर्मल वर्मा लिखते हैं कि जब वह दलीवाड़ा जगदलपुर से तीस किलोमीटर दूर भूरिया और माडिया आदिवासियों का हाट देखने गए। वर्मा जी ने देखा “इतनी दैन्य गरीबी, इतने उत्पीड़न-शोषण के बावजूद ये लोग महुआ और सलफी पीते हुए, खाना पकाते हुए कितने सुखी निश्चिन्त और स्वाधीन दिखाई देते हैं। और तब वर्मा जी को लगा कि कोई भी क्रांति और निजाम अर्थहीन है जो इन लोगों को नया मनुष्य बनाने के बहाने उनकी इस स्वतंत्रता, इस उल्लास और इस खुशी को छिन लेते हैं।” ठीक इसी प्रकार सितम्बर 1998 में गगन गिल से हुई चर्चा में भी विनोद कुमार शुक्ल बताते हैं कि “जो अंधेरे में रहते हैं, जिंदगी में उनका अपना भी तो सुख होता है। वे भी मुस्कराते हैं, प्यार करते हैं। मुझे लगा कि उनके सुख को क्यों न लिखा जाए।” शुक्ल जी के उपन्यासों और कविताओं में सुविधाओं की अपेक्षा सुख को अधिक महत्व दिया गया है। वे इस धारणा को तोड़ते हैं कि सुविधाएं होंगी तब ही सुख भी होगा। सुख आत्मीक होता है और वह प्रेम और प्रकृति के सबसे नज़दीक होता है। यही

कारण है कि दुनियाभर की सुविधाएं जुटाने के बाद भी शहरी लोग कुछ समय शांति और प्रकृति के बीच बिताना चाहते हैं। यदि इस बात पर और गहराई से विचार किया जाए तो रिसार्ट का चलन इस बात को प्रमाणित करता है कि लोग इस भाग-दौड़ से भरी जीवनशैली को छोड़कर गांव या कहें की प्रकृति और शांति में लौटना चाहते हैं, जो आज भी कहीं न कहीं गांव में ही मिलती है। बचे रहे गांव, बची रहे प्रकृति, बचा रहे जीवन और बचा रहे प्रकृति का अनंत वर्णन

काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यास ‘काशी का अस्सी’ में बताया है कि किस प्रकार बनारस के सांस्कृतिक स्वरूप को व्यवसायीकरण ने दूषित कर दिया है। आधुनिकीकरण के चलते घाटों से लेकर पंडों तक का रूप बदलकर रख दिया है। सिर्फ काशीनाथ सिंह ही नहीं अपितु उदय प्रकाश और निर्मल वर्मा जैसे कई लेखकों ने आधुनिकीकरण और विकास के नाम पर हो रहे विनाश को अपने लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। हाल के कुछ वर्षों में बांध परियोजनाओं और प्राकृतिक संसाधनों के चलते गांवों का विस्थापित किया जा रहा है, जिससे ग्रामीण आबादी को आर्थिक हानि हो ही रही है अपितु देश को भी सांस्कृतिक हानि हो रही है। विस्थापन के बाद उस गांव की संस्कृति, प्रकृति और पशु-पक्षियों का स्वरूप भी पूरी तरह से बदल जाता है। यदि यह भी कहा जाए कि समाप्त ही हो जाता है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज देश में जो आंतरिक असंतोष पैदा हो रहा है क्या वह हमारी ही देन नहीं है।

निष्कर्ष

विनोद कुमार शुक्ल के चारों उपन्यास वर्मा जी के इस कथन को यथार्थ में परिणीत करते हैं।



जहां हर उपन्यास के चरित्र की खुशियां आर्थिक उन्नति में नहीं अपितु आत्मीक शांति और भावमय जीवन में है। जहां सबकुछ के बचे होने के बीच आदमी अपनी पूरी मानवता के साथ उपस्थित है। आज शहरों ने जो घुसपैठ गांवों में की है। उसे बचाने का एक ही तरीका है कि गांवों को उनकी अपनी संस्कृति के साथ रहने दिया जाए। शिक्षा जैसी बुनियादी जरूरते पहुंचें , जो कि जरूरी भी है। परंतु शहरीकरण के दबाव से उन्हें मुक्त ही रखा जाए।

संदर्भ ग्रंथ

1. शुक्ल विनोद कुमार , दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. शुक्ल विनोद कुमार , खिलेगा तो देखेंगे , आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)
3. शुक्ल विनोद कुमार , हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़ राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
4. शुक्ल विनोद कुमार , नौकर की कमीज़ , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. वर्मा निर्मल, धुंध से उठती धुन , भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
6. वर्मा निर्मल, शब्द और स्मृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
7. सिंह काशीनाथ, काशी का अस्सी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
8. सिंह केदारनाथ , कल्पना और छायावाद , वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
9. डॉ. मिश्र रामदरश , हिंदी के आंचलिक उपन्यास , नमन प्रकाशन, नई दिल्ली